E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi, Assistant Professor, Department of Sanskrit, Dr. Shyama Prasad Mukherjee University, Ranchi

श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय के आधार पर कर्मयोग

डा० धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची

श्रीभगवान् ने युद्ध की अवश्य कर्तव्यता का अर्जुन के लिए प्रतिपादन करके अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश देना प्रारम्भ किया। कर्मयोग की प्रशंसा करते हुए श्रीभगवान् ने बतलाया कि सांख्ययोग का ज्ञान प्रदान करके मैं अब तुम्हें कर्मयोग का उपदेश दे रहा हूँ। इस कर्मयोग के ज्ञान के द्वारा तुम कर्मों के बन्धन को पार कर जाओगे-

"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि"।।

यह कर्मयोग निष्काम कर्मों का अनुष्ठान स्वरूप है। फलाभिसंधि से रहित होकर परमात्मप्रीत्यर्थ स्ववर्णाश्रमानुसार किये जाने वाले कर्मों को ही कर्मयोग कहते हैं। फलाभिसंधि रहित होकर किये जाने वाले कर्मों की यह विशेषता है कि वे कर्म बन्धनकारक नहीं होते हैं। अतएव-

"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्"।।

जो फल कर्मों के द्वारा प्राप्त हो उसे अभिक्रम कहते हैं। उसका इस लोक में नाश नहीं होता है। इन निष्काम कर्मों का फल अन्तःकरण की शुद्धि है। तथा वह पापक्षयस्वरूप है। अतएव उसमें लोकशब्दवाच्य भोग न रहने के कारण उसका क्षय होना सम्भव नहीं है। यहाँ तो ज्ञान में समाप्त होने वाली जिज्ञासा ही कर्म का फल है। अतः उसका फल को उत्पन्न किये बिना नाश होना सम्भव नहीं है। अतएव श्रीभगवान् ने ठीक ही कहा है कि इसका नाश नहीं होता है। 'तद्यथेह' श्रुति जो कर्म की निन्दा करती है, उसका सम्बन्ध फल से है, कर्म से नहीं। फलप्राप्ति की इच्छा का त्याग करके जो कर्म किया जाता है, उससे तो अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

श्लोक के 'प्रत्यवायो न विद्यते' इस अंश का अभिप्राय यह है कि निष्काम कर्मों में अंगवैगुण्य जनित दोष भी नहीं होता है। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन' इत्यादि श्रुति नित्यकर्मों का ही प्राप्त हुए पापों के क्षय द्वारा जिज्ञासा में विनियोग बतलाती है।

यदि संयोग-पृथक्त्व न्याय से उक्त श्रुति द्वारा काम्य कर्मों का भी जिज्ञासा में विनियोग मानें तो भी फलाभिसंधि से रहित होने के कारण वे काम्य कर्म नित्य कर्मों की ही कोटि में सन्निविष्ट हो जाते हैं। फलतः काम्य तथा नित्य कर्मों में कोई भेद नहीं रह जाता है।

सकाम कर्मों की निष्काम कर्म से विलक्षणता का प्रतिपादन करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि जो आत्मतत्त्व का निश्चय करने वाली बुद्धि है वह एक होती है, क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' श्रुति के 'वेदानुवचनेन' पद में तृतीया विभक्ति होने के कारण श्रुति के द्वारा यज्ञ, दान तथा अनाशक इन तीनों में से प्रत्येक की स्वतन्त्र साधनता बतलायी गयी है। वह आत्मतत्त्व का निश्चय करने वाली व्यवसायात्मिका बुद्धि एक होती है तथा स्वेतरसमस्त बुद्धियों का बाध करने वाली होती है। फलतः जो अव्यवसायी होते हैं, उनकी बुद्धियों का उससे बाध हो जाता है। अतएव जो लोग कर्मफल की प्राप्ति की इच्छा से कर्मों को किया करते हैं, उनकी बुद्धियाँ अनेक शाखाओं वाली तथा अनेक हुआ करती हैं-

"व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्"।।

अब प्रश्न होता है कि प्रमाण तो दोनों प्रकार के लोगों के लिए एक समान ही होता है, अतएव अव्यवसायियों की भी व्यवसायात्मिका बुद्धि क्यों नहीं होती है? तो इस शंका का समाधान श्रीभगवान् आगे के श्लोकों के माध्यम से करते हुए कहते हैं-

"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषैर्बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तापहृतचेतसाम्।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते"।।

अर्थात् वेदों के अर्थवाद में आसक्त कर्मकाण्ड से भिन्न ज्ञानकाण्ड नहीं है- ऐसा कहने वाले विषय-वासनाओं से व्याप्त तथा स्वर्ग को ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थं मानने वाले अज्ञानी जीव, जो जन्म, कर्म और फल की प्राप्ति कराने वाली भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अग्निहोत्रादि विशेष कर्मों के विस्तार से युक्त इस पुष्पित पलाश के समान आपातरमणीय वाणी को बोलते रहते हैं, उससे उनका चित्त आवरण युक्त हो जाता है; तथा भोग एवं ऐश्वर्य में ही उनकी आसक्ति बढ़ जाती है। अतएव अव्यवसायी पुरुषों में आत्मतत्त्व को निश्चय करने वाली बुद्धि नहीं उत्पन्न होती है।

यहाँ पर यदि कोई यह कहे कि सकाम पुरुषों को अन्तःकरण की अशुद्धि के कारण व्यवसायात्मिका बुद्धि भले ही न उत्पन्न हो; किन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धि से कर्म करने वाले निष्काम पुरुषों को भी तो कर्म का स्वभाव होने के कारण स्वर्गादि की प्राप्ति होने पर अव्यवसायात्मिका बुद्धि वालों के समान ही ज्ञान का प्रतिबन्ध उपस्थित हो जायेगा? तो इस शंका का समाधान करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं-

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्"।।

तीनों गुणों के कर्म को त्रैगुण्य कहते हैं। अर्थात् काममूलक संसार ही त्रैगुण्य है। वेद कर्ममूलक संसार को ही अपना विषय बनाते हैं। तुम निस्त्रैगुण्य बनो अर्थात् तुम निष्काम बनो। किञ्च शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहने वाला बनकर निर्द्वन्द्व बनो; तथा रजोगुणी एवं तमोगुणी प्रवृत्तियों को अभिभूत करके सात्त्विक प्रवृत्ति वाला बनो। साथ ही तुम निर्योगक्षेम बनो। अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त करने को योग कहते हैं तथा प्राप्त वस्तुओं का संरक्षण करने को क्षेम कहते हैं। तुम संग्रह तथा संरक्षण से ऊपर उठकर निर्योगक्षेम बनो। साथ ही परमात्मा को ही अपने योगक्षेम का निर्वाहक मानकर तुम निर्योग-क्षेम आत्मवान् बनो।

निष्काम कर्मों को करने वाला पुरुष आनन्द से वञ्चित नहीं रहता है, इस बात को बतलाते हुए श्रीभगवान् ने कहा-

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।

तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः"।।

अर्थात् जिस प्रकार छोटे-छोटे बावली, कूप, तड़ाग इत्यादि जलाशयों से जितने भी प्रयोजनों की सिद्धि होती है, उन सभी प्रयोजनों की सिद्धि चारों ओर से जल से परिपूर्ण बड़े जलाशय से भी होती है, उसी प्रकार वेदोक्त सम्पूर्ण प्रयोजनों की सिद्धि आत्मज्ञ तत्त्ववेत्ता को ज्ञान के द्वारा होती है। अब प्रश्न होता है कि यदि बहुत अधिक आयास-साध्य निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से आनन्द की ही प्राप्ति होती है, तो फिर आत्मज्ञान का ही सम्पादन करना चाहिए?

तो इस शङ्का का समाधान करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं -

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि"।।

अर्थात् तुम्हारा अधिकार कर्मों के करने में ही होना चाहिए, किसी भी अवस्था में उसके फलों को भोगने में नहीं। तुम कर्मफल के हेतु मत बनो और कर्मों के न करने में भी तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

यहाँ भगवान् कहते हैं-प्राप्त कर्तव्य कर्म का पालन करने में ही तेरा अधिकार है। इसमें तू स्वतन्त्र है। कारण कि मनुष्य कर्मयोनि है। मनुष्यके सिवाय दूसरी कोई भी योनि नया कर्म करनेके लिये नहीं है। पशु-पक्षी आदि जङ्गम और वृक्ष, लता आदि स्थावर प्राणी नया कर्म नहीं कर सकते। देवता आदि में नया कर्म करनेकी सामर्थ्य तो है, पर वे केवल पहले किये गये यज्ञ, दान आदि शुभ कर्मों का फल भोगने के लिये ही हैं। वे भगवान् के विधान के अनुसार मनुष्यों के लिये कर्म करने की सामग्री दे सकते हैं, पर केवल सुखभोग में ही लिप्त रहने के कारण स्वयं नया कर्म नहीं कर सकते। नारकीय जीव भी भोग योनि होनेके कारण अपने दुष्कर्मोंका फल भोगते हैं, नया कर्म नहीं कर सकते। नया कर्म करने में तो केवल-मनुष्यका ही अधिकार है। भगवान् ने सेवारूप नया कर्म करके केवल अपना उद्धार करने के लिये यह अन्तिम मनुष्यजन्म दिया है। अगर यह कर्मोंको अपने लिये करेगा तो बन्धनमें पड़ जायगा और अगर कर्मोंको न करके आलस्य-प्रमादमें पड़ा रहेगा तो बार-बार जन्मता-मरता रहेगा। अतः भगवान् कहते हैं कि तेरा केवल सेवारूप कर्तव्य-कर्म करनेमें ही अधिकार है।

मनुष्यशरीर में दो बातें हैं- पुराने कर्मों का फलभोग और नया पुरुषार्थ। दूसरी योनियों में केवल पुराने कर्मों का फलभोग है अर्थात् कीट-पतंग, पशु-पक्षी, देवता, ब्रह्म-लोकतक की योनियाँ भोग-योनियाँ हैं। इसलिये उनके लिये ऐसा करो और ऐसा मत करो- यह विधान नहीं है। पशु-पक्षी कीट-पतंग आदि जो कुछ भी कर्म करते हैं, उनका वह कर्म भी फलभोग में है। कारण कि उनके द्वारा किया जानेवाला कर्म उनके प्रारब्धके अनुसार पहलेसे ही रचा हुआ है। उनके जीवन में अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका जो कुछ भोग होता है, वह भोग भी फलभोग में ही है। परन्तु मनुष्यशरीर तो केवल नये पुरुषार्थ के लिये ही मिला है, जिससे यह अपना उद्धार कर ले। इस मनुष्यशरीर में दो विभाग हैं- एक तो इसके सामने पुराने कर्मोंके फलरूपमें अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है; और दूसरा यह नया पुरुषार्थ (नये कर्म) करता है। नये कर्मों के अनुसार ही इसके भविष्य का निर्माण होता है। इसलिये शास्त्र, सन्त-महापुरुषों का विधि-निषेध, राज्य आदि का शासन केवल मनुष्यों के लिये ही होता है; क्योंकि मनुष्य में पुरुषार्थ की प्रधानता है, नये कर्मों को करने की स्वतन्त्रता है। परन्तु पिछले कर्मों के फलस्वरूप मिलनेवाली अनुकूल-प्रतिकूलरूप परिस्थिति को बदलने में यह परतन्त्र है। तात्पर्य है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र और फल-प्राप्ति में परतन्त्र है। परन्तु अनुकूल-प्रतिकूलरूप से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करके मनुष्य उसको अपने उद्धार की साधन-सामग्री बना सकता है; क्योंकि यह मनुष्यशरीर अपने उद्धार के लिये ही मिला है। इसलिये इसमें नया पुरुषार्थ भी उद्धारके लिये है और पुराने कर्मोंके फल फलरूपसे प्राप्त परिस्थिति भी उद्धारके लिये ही है।

भगवान् पुनः कहते हैं-फल में तेरा किञ्चिन्मात्र भी अधिकार नहीं है अर्थात् फल की प्राप्ति में तेरी स्वतन्त्रता नहीं है; क्योंकि फलका विधान तो मेरे अधीन है। अतः फल की इच्छा न रखकर कर्तव्य-कर्म कर। अगर तू फल की इच्छा रखकर कर्म करेगा तो तू बँध जायेग-'फले सक्तो निबध्यते' कारण कि फलेच्छा अर्थात् भोक्तृत्व पर ही कर्तव्य टिका हुआ है अर्थात् भोक्तृत्व से ही कर्तृत्व आता है। फलेच्छा सर्वथा मिटनेसे कर्तृत्व मिट जाता है, और कर्तृत्व मिटने से मनुष्य कर्म करता हुआ भी नहीं बँधता। भाव यह हुआ कि वास्तव में मनुष्य कर्तृत्व में उतना फँसा हुआ नहीं है जितना फलेच्छा अर्थात् भोक्तृत्व में फँसा हुआ है। दूसरी बात, जितने भी कर्म होते हैं, वे सभी प्राकृत पदार्थों और

व्यक्तियों के संगठन से ही होते हैं। पदार्थों और व्यक्तियों के संगठन के बिना स्वयं कर्म कर ही नहीं सकता; अतः इनके संगठन के द्वारा किये हुए कर्म का फल अपने लिये चाहना ईमानदारी नहीं है। अतः कर्मका फल चाहना मनुष्यके लिये हितकारक नहीं है। फलमें तेरा अधिकार नहीं है- इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि फल के साथ सम्बन्ध जोड़ने में अथवा न जोड़ने में मात्र मनुष्य स्वतन्त्र हैं, सबल हैं। इसमें वे पराधीन और निर्बल नहीं है।

आगे पुनः कहा गया है- तू कर्मफलका हेतु भी मत बन। तात्पर्य है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कर्म-सामग्रीके साथ अपनी किञ्चिन्मात्र भी ममता नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि इनमें ममता होनेसे मनुष्यकर्म-फलका हेतु बन जाता है। पुनश्च भगवान् कहते हैं कि कर्म न करनेमें भी तेरी आसक्ति नहीं होनी चाहिये। कारण कि कर्म न करनेमें आसक्ति होनेसे आलस्य, प्रमाद आदि होंगे। कर्मफलमें आसक्ति रहनेसे जैसा बन्धन होता है, वैसा ही बन्धन कर्म न करनेमें आलस्य, प्रमाद आदि होनेसे होता है; क्योंकि आलस्य-प्रमादका भी एक भोग होता है अर्थात् उनका भी एक सुख होता है, जो तमोगुण है।

भगवान् श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं-

"योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते"।।

अर्थात् हे धनञ्जय ! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर; क्योंकि समत्व ही योग कहा जाता है।

'सङ्गं त्यक्त्वा' से अभिप्राय है कि किसी भी कर्म में किसी भी कर्म के फल में, किसी भी देश, काल, घटना, परिस्थिति, अन्तःकरण, बहिःकरण आदि प्राकृत वस्तु में आसक्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में ही मनुष्य निर्लिप्ततापूर्वक कर्म कर सकता है।

भगवान् का कथन है कि कर्म का पूरा होना अथवा न होना, सांसारिक दृष्टि से उसका फल अनुकूल होना अथवा प्रतिकूल होना, उस कर्म को करने से आदर-निरादर, प्रशंसा-निन्दा होना, अन्तःकरण की शुद्धि होना अथवा न होना आदि-आदि जो सिद्धि और असिद्धि है, उसमें सम रहना चाहिये।

कर्मयोगी की इतनी समता अर्थात् निष्कामभाव होना चाहिये कि कर्मों की पूर्ति हो चाहे न हो, फल की प्राप्ति हो चाहे न हो, अपनी मुक्ति हो चाहे न हो उसे केवल कर्तव्य-कर्म करना है। साधक को असङ्गता का अनुभव न हुआ हो, उसमें समता न आयी हो, तो भी उसका उद्देश्य असङ्ग होने का, सम होने का ही हो। जो बात उद्देश्य में आ जाती है, वही अन्त में सिद्ध हो जाती है। अतः साधनरूप समता से अर्थात् अन्तःकरण की समता से साध्यरूप समता स्वतः आ जाती है।

'योगस्थः कुरु कर्माणि'-यहाँ सिद्धि अथवा असिद्धि में सम होने के बाद उस समता में निरन्तर अटल स्थित रहना ही 'योगस्थ' होना है। जैसे किसी कार्य के आरम्भ में गणेशजी का पूजन करते हैं, तो उस पूजन को कार्य करते समय हरदम साथ में नहीं रखते, ऐसे ही कोई यह न समझ ले कि आरम्भ में एक बार सिद्धि-असिद्धि में सम हो गये तो अब उस समताको हरदम साथ में नहीं रखना है, राग-द्वेष करते रहना है, इसलिये भगवान् कहते हैं कि समता में हरदम स्थित रहते हुए ही कर्तव्य-कर्मको करना चाहिये।

भगवान् पुनः कहते हैं-

"कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्"।।

अर्थात् समतायुक्त मनीषी साधक कर्मजन्य फल का त्याग करके जन्मरूप बन्धन से मुक्त होकर निर्विकार पद को प्राप्त हो जाते हैं।

वस्तुतः समतायुक्त मनीषी साधक जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। कारण कि समतामें स्थित हो जानेसे उनमें राग-द्वेष कामना, वासना, ममता आदि दोष किञ्चिन्मात्र भी नहीं रहते, अतः उनके पुनर्जन्मका कारण ही नहीं रहता। वे जन्म-मरणरूप बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाते हैं।